अङ्क-२५
जनवरी-जून २०१५

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

आचार्य यास्क से पूर्वकालिक निरुक्तकार एवम् उनकी निर्वचनविद्या के प्रतिमान तथा भाषावैज्ञानिक समीक्षा

प्रो. रूप किशोर शास्त्री

वैदिकवाङ्मय एवं भारतीय मनीषा के आचार्य, महर्षि यास्क ऐसे जाज्वल्यमान सूर्य हैं, जिन्होंने वेदविद्या के मूलभूत आयामों को अपनी अमरकृति निरुक्त एवं निघण्टु के माध्यम से समालोकित किया है। दैवतविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान, पदविज्ञान, दर्शन, वेदार्थविज्ञान एवं निरुक्त इतिहास अत्यन्त दुरुह हो जाते, यदि आचार्य यास्क का निरुक्तशास्त्र हमें न मिलता। वहीं उन्होंने अपने पूर्ववर्ती घटनाओं, राजाओं एवं विभिन्न विद्याप्रवर्तक आचार्यों व ऋषियों का उल्लेख कर वैदिक-चिन्तन को व्यापक एवम् आधारभूत आयाम प्रदान किया है। निःसन्देह उनके अभूतपूर्व योगदान से आज सम्पूर्ण जगत् उनका हृदय से आभारी एवम् ऋणी है।

यह तथ्य विचारणीय है कि आचार्य यास्ककृत निरुक्त ही एकमात्र निरुक्त नहीं है। जिस विषय का यहाँ विश्लेषण किया जाना अपेक्षित है, इससे विदित होगा कि आचार्य यास्क से पूर्ववर्ती अनेक निरुक्त एवं नैरुक्त हुए हैं, जिन्होंने स्वयं महर्षि यास्क को गहनता से प्रभावित किया है, इसी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए उनके सिद्धान्तों को यथास्थान सादर प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है ;-

निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने **'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्'**[१] यह उल्लेख कर यास्क सहित १४ प्रकार के निरुक्त भेदों का सङ्केत किया है। जिनका उनके सिद्धान्त सहित महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में प्रसङ्ग एवं यथास्थान वर्णन किया है। यास्क के पूर्ववर्ती आचार्यों का यद्यपि क्रमिक कालनिर्णय करना सर्वथा दुष्कर है, परन्तु उनके नामोल्लेखों से विदित होता है कि वैदिक एवं प्राचीन युग में समय-समय पर वेदार्थज्ञापक उनके निरुक्तों का प्रणयन हुआ होगा, उनकी ही दिशा लेकर महर्षि यास्क ने वेदाङ्ग के प्रमुख अङ्ग के रूप में निरुक्त को सुतरां व्यवस्थित किया था। यास्क अपने युग के सभी संहिताओं, शास्त्रों एवम् अनेकानेक देशी-विदेशी भाषाओं के ज्ञाता तथा नैरुक्त, वैयाकरण, याज्ञिक, ऐतिहासिक, परिव्राजक, हारिद्रविक, नैदानादि सम्प्रदायों में सिद्धहस्त विशेषज्ञ के रूप में विख्यात रहे हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य यास्क ने अपने निरुक्तशास्त्र में जिन निरुक्त सम्प्रदायों एवम् आचार्यों का निष्पक्ष भाव से उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं ;-

---

[१] दुर्ग १/१३

१. आग्रायण

आचार्य यास्क ने चार स्थानों पर आचार्य आग्रायण द्वारा कृत निर्वचनों एवम् उनके सिद्धान्त का उल्लेख किया है - **१. अक्षिः 'अनक्तेः इत्याग्रायणः'**[२] आचार्य आग्रायण की इस निरुक्ति को यास्क ने **अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः**[३] के व्याख्या-सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हुए कहा कि आग्रायण ऋषि ने 'अक्षिः' पद की निरुक्ति **√अञ्जु - व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादि) धातु से की है, क्योंकि इसके पीछे एक प्रमुख कारण प्रतीत होता है कि ये अधिक व्यक्त होती हैं और शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा मुखमण्डल में सबसे अधिक व्यक्त होती है, चमकती है, शरीरस्थ अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक व्यक्त एवं व्यस्त होने की पुष्टि में ब्राह्मणग्रन्थ का **'तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते'** यह प्रमाण भी उद्धृत किया है, किस ब्राह्मण या अनुब्राह्मण का वचन है ? यह ज्ञात नहीं हो सकता है, लेकिन आचार्य यास्क ने **'अक्षिः चष्टेः'**[४] यहाँ **√चक्षिङ्-दर्शने** या **√चक्षिङ् - व्यक्तयां वाचि** धातु से **अक्षिः** की निरुक्ति की है, यद्यपि आचार्य यास्क की निरुक्ति अर्थात्मक पक्ष की वाहिका है। जबकि आचार्य आग्रायण की निरुक्ति ध्वन्यात्मक एवम् अर्थात्मक-दृष्टि से अधिक सङ्गत है तथा इसे धातुज निरुक्ति मानना भी सर्वथा समीचीन होगा। निश्चित रूप से आचार्य यास्क के मत का आधार वेद में निहित मूल निरुक्तियाँ रही हैं- **'तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्'**[५] तथा **'शतं चक्षाणो अक्षभिर्देवो वनेषु तुर्वणिः'**[६] परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'अश्नोतेरयमौणादिकः करणसाधनः 'सि' प्रत्ययः। अश्नुतेनेनेत्यक्षि'**[७] यहाँ **√अशूङ् -व्याप्तौ** धातु से सिः प्रत्यय लगाकर अक्षि पद को व्युत्पन्न मानते हैं। उणादिवृत्तिकार **अशेर्नित्**[८] सूत्र से **√अशूङ् व्याप्तौ- क्सिः > अक्षिः** अभीष्ट मानते हैं। महर्षिदयानन्द ने इसी धातु के साथ **उणादिकोषवृत्ति** में **'अश्नुते व्याप्नोति विषयान् येन तत् अक्षिः नेत्रं वा'**[९] यह निरुक्ति दी है। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार भारोपीय-भाषा में देखने के अर्थ में मूल धातु oqu प्राप्त होती है इससे ग्रीक में दोनों आँखों के लिए osse पद प्राप्त है, अँगरेजी में to see का अभिप्राय रखता है। सभी दिशाओं में देखने के साथ व्यापक अर्थ वाली **√अशूङ्-** धातु इसके सर्वाधिक नैकटी एवं साम्य रखती है। **अशूङ् > अशू > अस > (ओत्व) ओस्स** तथा द्विवचन में ओस्से निष्पन्न है, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टि से तर्कसङ्गत है।

---

[२] निरु. १/१०
[३] ऋ. १०/७१/७
[४] निरु. १/१०
[५] ऋ. १/११६/१६
[६] ऋ. १/१२८/३
[७] पा. महा. ३/२/११५
[८] उ.को. ३/१५६
[९] उ.को. ५/१५६

२. कर्णः ऋच्छतेरित्याग्रायणः ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते।[१०] यहाँ आचार्य आग्रायण कर्ण पद को **√ऋच्छ-गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु** (तुदा.) धातु से व्युत्पन्न मानकर निरुक्ति करते हैं। **ऋच्छतेः** पद का अभिप्राय गये हुए या बाहर गये हुए से है। कान आकाश से शब्द को ग्रहण करने के लिए गये हुए प्रतीत होते हैं। इस तथ्य को बल मिलता है, ब्राह्मणग्रन्थ के **'ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते'** से अर्थात् आकाश में गये शब्द इन्हें प्राप्त हैं। आग्रायण के इस मत की पुष्टि में उद्धृत ब्राह्मणवचन किस ब्राह्मणग्रन्थ का है ? सम्प्रति अज्ञात है। यह सुतराम् अन्वेषणीय है। निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य दुर्ग ने **'आकाश से उत्पन्न हुए शब्द इनकी ओर जाते हैं और ये उनको ग्रहण करने के लिए आकाश में जाते हैं'** ऐसा अर्थ किया है। स्कन्दस्वामी ने **'खे उद्गन्ताम्'** यहाँ **'खे'** को सप्तमी का एकवचन न मानकर प्रथमा का द्विवचन माना है। क्योंकि **'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्'**[११] सूत्र से प्रगृह्य स्थिति सर्वथा सम्भव है। चूँकि सप्तमी मानने पर **खे** के उपधा ए का लोप होकर **'ख उद्गन्ताम्'** यह प्रयोग होना चाहिए। इस कारण ऋच्छन्ति को आख्यातपद न मानकर स्कन्दस्वामी ने शतृ प्रत्ययान्त प्रथमा का द्विवचन **'ऋच्छन्ती'** स्वीकार किया है। अतः स्कन्द के मत में कर्णविवर-रूप दो आकाश इनके अन्दर जाते हुए से हैं। इस प्रकार के अर्थप्रकाशन से आग्रायण आचार्य की कर्ण की निरुक्ति को ऊर्जा मिलती है। जबकि महर्षि यास्क ने **√कृती-छेदने** धातु को मूल मानते हुए कर्ण पद की **'कर्णः कृन्ततेः, निकृत्तहारो भवति'**[१२] यह निरुक्ति की है। क्योंकि कर्ण का द्वार कटा हुआ रहता है। यहाँ यास्क के निर्वचन का आधार शब्दाकृतिपरक एवम् अर्थात्मक है, जबकि आग्रायण का आधार अर्थात्मक एवं परोक्षवृत्याश्रित है। हालाँकि व्याकरण के अनुसार √कृ-विक्षेपे धातु से नः प्रत्यय करके कर्ण पद सम्पन्न होता है।

३. **(नासत्या > नासत्यौ' सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः**[१३] यहाँ निरुक्त में ऋग्वेद ७/२६/४ वें मन्त्र की व्याख्या-सन्दर्भ में **नासत्या > नासत्यौ** पद पर आचार्य यास्क, और्णवाभ और आग्रायण के मतों की प्रस्तुति है। **नासत्यौ अश्विनौ** अर्थात् अश्विनी युगल का वाचक है। जहाँ आचार्य और्णवाभ ने **नासत्यौ > न - अ (नञ्) - सत्यौ > नासत्यौ** अर्थात् सत्यस्वरूप अश्विनीदेव युगल मानकर **नासत्यौ** की स्थिति को स्पष्ट किया है, वहीं आचार्य आग्रायण ने अपनी आर्षप्रज्ञा का अद्भुत प्रदर्शन कर भाषाविज्ञान के क्षेत्र में नया प्रतिमान प्रस्तुत किया है, उन्होंने **'सत्यस्य प्रणेतारौ > नासत्यौ'** ऐसी निरुक्ति **नासत्यौ** की किया है। वे नासत्य के पूर्व पद **'ना'** का सङ्केत **√णीञ् - प्रापणे** से व्युत्पन्न **ना** को **नेतारौ** के अर्थ का

---

[१०] निरु. १/१०
[११] अष्टा. १/१/११
[१२] निरु. १/१०
[१३] निरु. ६/१३

ग्रहण करते हैं। अभिप्राय है वे दोनों अश्विनीयुगल सत्य के **ना > नेतारौ > नेता** हैं। इनके अनुसार **नासत्यौ** पद **ना-सत्यौ** से व्युत्पन्न है। पदविज्ञानानुसार **ना** को उत्तरवर्ती होना चाहिए, जैसी की आग्रायण ने निरुक्ति की है। लेकिन यहाँ पदविपर्यय-सिद्धान्त को मानकर ऐसा निर्वचन किया है, वस्तुतः यह निर्वचन विपर्ययवाद का पालन करता हुआ ध्वनि, धातु एवम् अर्थ का प्रबल संवाहक है।

४. **'इंद करणादित्याग्रायणः'**[१४] यहाँ सन्दर्भ 'इन्द्र' की निरुक्ति का है। आचार्य यास्क ने **'इन्द्र इरां दृणातीति वा। इरां ददातीति वा। इरां दधातीति वा। इरां दारयते इति वा। इरां धारयते-इति वा। इन्द्रवे द्रवतीति वा। इन्दौ रमते इति वा। इरां धारयत इति वा। इन्धे भूतानीति वा। इन्दतेः वैश्वकर्मणः। इन्दछत्रूणां दारयिता वा। द्रावयिता वा। आदरयिता वा।'** इन्द्र पद की तेरह निरुक्तियाँ देकर अपनी प्रतिभा का लोहा संसार द्वारा मनवाया है। वहाँ आचार्य आग्रायण की उपर्युक्त निरुक्ति में **इदं - √डुकृञ्-करणे** धातु का योग है। इदं - (डु) कृञ् > इदंकर > इन्द्र अर्थात् उसने सब कुछ किया है, इसलिए इन्द्र कहलाया। वस्तुतः आग्रायण की निरुक्ति कर्माधारित है। इस सम्बन्ध में एक रहस्य ध्यातव्य है कि निरुक्त में यद्यपि आग्रयण आचार्य का नामोल्लेख है न कि आग्रायण का। ऐसा कतिपय विद्वान् मानते हैं कि आग्रायण भी नैरुक्त हुए हैं, यह उन्हीं का मत है, न कि आग्रायण का। सम्भव है आचार्य आग्रयण, आचार्य आग्रयण के गुरु या पिता अथवा इनके पूर्वज रहे होंगे, यह और चिन्तन की अपेक्षा रखता है।

२. औदुम्बरायण

यास्क के निरुक्त में आचार्य औदुम्बरायण के एक ही मत का उल्लेख मिलता है। ये शब्द को अनित्य मानने वाले आचार्य हैं - 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। तत्र चतुष्टं नोपपद्यते अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च'१५ यहाँ औदुम्बरायण द्वारा शब्द को इन्द्रियनित्य - अर्थात् अनित्य मानने में तीन हेतु अथवा तीन दोषों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रदर्शित किया गया है। १. चतुष्टं न उत्पद्यते - अर्थात् नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपातों का वागिन्द्रियत्व अनित्य होने के कारण पदचतुष्टय का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। २. अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानां इतरेतरोपदेशः - एक साथ उत्पन्न न होने वाले शब्दों का परस्पर प्रधान /अप्रधान स्वरूप भी नहीं बन पाता। और ३. शास्त्रकृतो योगश्च - प्रकृति - प्रत्ययादि शास्त्रकृत योग भी नहीं बन पाता है। वैदिक चिन्तन एवं भारतीय-मनीषा में आदिकाल से ही शब्दतत्त्व को नित्य माना गया है। लेकिन आचार्य औदुम्बरायण का सिद्धान्त भी कम प्राचीन नहीं है। विदित होता है कि यास्क से पूर्वकाल में भी ऐसे ऋषि एवं नैरुक्त हुए हैं जो औदुम्बरायण के मत के मानने वाले होंगे, अन्यथा इसको इतना महत्त्व नहीं मिलता।

---

[१४] निरु. १०/८

[१५] निरु. १/२

३. औपमन्यव

आचार्य शाकपूणि के पश्चात् औपमन्यव ऐसे निरुक्तकार आचार्य हुए हैं, जिनके सिद्धान्तों का उल्लेख सर्वाधिक १२ बार आचार्य यास्क ने अपने निरुक्तशास्त्र में प्रतिपादित किया है तथा बृहद्देवताकार आचार्य शौनक ने १ बार यास्क के साथ उल्लेख किया है। निरुक्त में उनके सिद्धान्त उल्लिखित हैं -

१. त इमे निगन्तव एव सन्तो निगमान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः - निरु. १/१

२. दमनादित्यौपमन्यवः - निरु. २/२

३. पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः - निरु. २/६

४. स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः - निरु. २/११

५. चत्वारो वर्णा निषादः इत्यौपमन्यवः - निरु. ३/८

६. कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः - निरु. ३/११

७. न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः। काकोऽपकालयितव्यो भवति। - निरु. ३/१८

८. बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। निरु. ३/११

९. शिपिविष्टः विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः॥ निरु. ५/७

१०. काणोऽविक्रान्तादर्शन इत्यौपमन्यवः - निरु. ६/३०

११.विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः - निरु. ६/३०

१२.इदं दर्शनात् इत्यौपमन्यवः - निरु. १०/८

इस प्रकार आचार्य यास्क ने अपने से प्राग्वर्ती प्रसिद्ध नैरुक्त औपमन्यव ऋषि का निघण्टवः,[१६] दण्डः,[१७] परुषे,[१८] ऋषिः,[१९] कुत्सः[२०] और इन्द्रः[२१] इन स्थलों पर शब्द-निर्वचन करने के सन्दर्भ में पाँच बार पञ्चजनाः,[२२] यज्ञः,[२३] शिपिविष्टः,[२४] काणः[२५] और विकटः[२६] इन स्थलों पर शब्द के कर्माश्रित अर्थ

---

[१६] निरु. १/१
[१७] निरु. २/२
[१८] निरु. २/६
[१९] निरु. २/११
[२०] निरु. ३/११
[२१] निरु. १०/८
[२२] निरु. ३/८
[२३] निरु. ३/१९
[२४] निरु. ५/७
[२५] निरु. ६/३०
[२६] निरु. ६/३०

करने के प्रसङ्ग में तथा एक बार में काक[२७] पद पर काँव-काँव करने के कारण पड़े कौआ नाम सम्बन्धी मत का विरोध करने के लिए अपना मत देते हुए कहा है कि **'न शब्दानुकृतिर्विद्यते'** अर्थात् शब्दानुकरण करने के कारण पक्षियों का नामकरण नहीं होता, उनके मतानुसार **काकोऽप कालयितव्यो भवति** अर्थात् कौआ निकालने के योग्य होता है, इसलिए वह काक पद से सम्बोध्य है।

औपमन्यव के उक्त निर्वचनों से उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की महनीय एवम् उदात्त स्थिति का बोध होता है। उनकी निरुक्तियों में वर्णपरिवर्तन के सिद्धान्त को पर्याप्त बल मिलता है। यह भाषा की अनवरत यात्रा में आये अनेक पड़ावों को संसूचित करती है, जहाँ घिसकर शब्द अन्य रूप में परिवर्तित हो जाया करते हैं, यही कारण है कि निघण्टु पद की उन्होंने निगमः - **निश्चयेन वेदार्थं गमयन्ति अथवा नि-निश्चयेन गमाः निगूढार्था एते परिज्ञाताः सन्तो मन्त्रार्थान् गमयन्ति इति निगमाः**[२८] **निगमा > नि - गम् - तुन्**[२९] **प्रत्यय > निगन्तु** (ग के स्थान पर घ) > **निघन्तु** तथा त के स्थान पर टकार व **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**[३०] अष्टाध्यायीसूत्र से > **निघण्टु** पद बना है। इससे प्रतीत होता है कि औपमन्यव से प्राक्काल में वेदार्थ को स्पष्ट करने के लिए निघण्टु भी व्यापक-रूप से प्रचलित हो गये होंगे, जैसे अनेक निरुक्तकारों का उल्लेख मिला है; सम्भव है अनेक निघण्टुकार भी पहले हो चुके होंगे। **दण्ड - √दमु -उपशमने - डः प्रत्यय > दण्डः**, यहाँ औपमन्यव ने दमनार्थक √दमु धातु को व्यावहारिक इसलिए बताया चूँकि **'अदान्तं दमयति येन असौ दण्डः'** अर्थात् उच्छृङ्खल को जिससे शमन व दमन किया जाये, वही दण्ड है, जबकि आचार्य यास्क ने **'दण्डो ददतेः धारयति कर्मणा'**[३१] अर्थात् धारणार्थक √दद धातु से निरुक्ति दी है। स्तोमों एवम् ऋचाओं का दर्शन करने के कारण मन्त्रद्रष्टा को ऋषि कहा है। इस पद के इतिहास की पृष्ठभूमि में औपमन्यव ने **स्तोमदर्शन > दर्शनार्थक** या प्रेक्षणार्थक √**दृशिर** - धातु को भाषा के आलोक में स्थित किया है। इसी **दृशिर > ऋषि** (द ध्वनि लोप) > ऋषि बताया है, जो सिद्धान्ततः ऋषि कार्य-व्यापार की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है। इस अर्थगत व्यवहार की पुष्टि **'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभ्यानर्षत ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वं इति ह विज्ञायते'** इस ब्राह्मणवचन से होती है। इसी तरह आचार्य यास्क ने औपमन्यव प्रोक्त एकाक्ष वाची **'काणः'** पद की सारगर्भित एवं मनोहारी निरुक्ति दो विभागों में की है - १. **काणोऽविक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः**[३२] अर्थात् **अविक्रान्तमपगतं दर्शनं यस्य सः अविक्रान्तदर्शनः** अर्थात् जिसे कम दिखाई पड़ता है। आचार्य औपमन्यव के अनुसार **अविक्रान्तदर्शी या**

---

[२७] निरु. ३/१८

[२८] निरुक्त दुर्गवृत्ति १/१

[२९] सितनिगमिमसिसिच्यविधाञ्कुशिभ्युस्तुन् उ.को. १/६९

[३०] अष्टा. ८/४/५७

[३१] निरु. २/२

[३२] निरु. ६/३०

विकृतलोचनः काणः कहलाता है। २. **विक्रान्तदर्शनः - विक्रान्तं विगतं दर्शनं यस्य सः विक्रान्तदर्शनः** - अर्थात् जिसका एक नेत्र स्वस्थ नहीं है। आचार्य के अनुसार इस शब्द के मूल में **√क्रमु-विक्षेपे** धातु निहित है। **√क्रमु-घञ् >क्रामः > काणः** व्युत्पन्न माना है। आचार्य औपमन्यव की इस निरुक्ति का अर्थात्मक आधार तो व्यावहारिक है, परन्तु ध्वन्यात्मक आधार हेतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से सुतरां विचारणीय है।

४. और्णवाभ - आचार्य यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती प्रसिद्ध निरुक्तकार और्णवाभ को उसकी निरुक्तिगत सिद्धान्तों के सहित पाँच बार स्मरण किया है -

१. **वृणोतेरित्यौर्णवाभः - निरु. २/२६**
२. **सत्यावेव नासत्यौ इत्यौर्णवाभः - निरु. ६/१३**
३. **जुहोतेर्होता इत्यौर्णवाभः - निरु. ७/१५**
४. **अश्वैरश्विनौ इत्यौर्णवाभः - निरु. १२/१**
५. **समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इत्यौर्णवाभः - निरु. १२/१**

आचार्य और्णवाभ ने निघण्टु २/२६ के नदी नामों में पठित 'ऊर्वी' पद को **√वृञ्-आच्छादने (वृणोतेः)** धातु से **√वृञ्-आवरणे** से सम्प्रसारण के आलोक में ऊर्वी की निष्पन्नता तथा **'नासत्यौ'** पद को **न-अ-सत्यौ, नासत्यौ** के निरचन वस्तुतः, किसी प्राचीन निर्वचन शैली की ओर इंगित करते हैं। अग्नि के लिए विनियुक्त 'होतृ' पद को **√हु-दानादानयोः (जुहोतेः)** से माना है। चूंकि होता और अग्नि का कर्मकाण्ड व यागीय दृष्टि से घनिष्ट सम्बन्ध है, यही भाव एवं धातु लोक में प्रचलित है और अश्विनौ की निरुक्ति का आधार **'आ नः स्तोममुप द्रवत्तूयं इयेनेभिराशुभिः। यातमश्वेभिरश्विना'**[३३] यह मन्त्र है, इसी से दिशा लेकर और्णवाभ ने **√अशू-व्याप्तौ** धातु को मूलतः प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त पाँचवे स्थल पर एक मन्त्र की व्याख्या सन्दर्भ में विष्णु पद रखता है, के प्रसङ्ग में उल्लेख किया है। बृहद्देवता[३४] में इनके उल्लेख से भी और्णवाभ के प्राचीन नैरुक्ताचार्य होने की पुष्टि मिलती है।

५. कात्थक्य

आचार्य यास्क ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य का सादर स्मरण अपने निरुक्त ग्रन्थ के दैवत अध्यायों में किया है। जिनके उद्धरण निम्न प्रकार हैं -

१. **यज्ञेध्म इति कात्थक्यः - निरु. ८/५**
२. **आज्यं इति कात्थक्यः - निरु. ८/५**

---

[३३] ऋग्. ८/५/७
[३४] बृहद्देवता ७/१२५

३. यज्ञ इति कात्थक्यः - निरु. ८/६

४. यूप इति कात्थक्यः - निरु. ८/१०

५. यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्यः - निरु. ८/१७

६. सस्यं च समा च इति कात्थक्यः - निरु. ९/१४, ४२

यद्यपि कात्थक्य ने अन्य आचार्यों की भाँति पदों की निरुक्तिगत व्याख्या तो नहीं की है, निर्वचन का सङ्केत मात्र है, प्रवचन अधिक प्रतीत होते हैं। कात्थक्य ने **इध्मः, तनूनपात्, द्वारः, यूपः, वनस्पतिः** आदि के प्रसङ्ग में निर्वचनात्मक प्रवचन किये हैं, उन्होंने इन समस्त पदों का यज्ञपरक अर्थ ही किया है अथवा यज्ञपरक उपकरणों में इनका सङ्केत प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त इनका नाम बृहद्देवताकार ने बड़े ही आदर से अनेक स्थानों पर लिया है। निश्चय ही बृहद्देवताकार द्वारा इनका स्मरण किये जाने से इनको याज्ञिक सम्प्रदाय के पुरोधा आचार्य के रूप में स्मरण किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कात्थक्य की नैरुक्त के रूप में उतनी ख्याति नहीं थी, जितनी की याज्ञिक प्रक्रिया के प्रामाणिक आचार्य की है। यदि कहीं निर्वचन सम्बन्धी प्रकरण मिलते तो निःसन्देह यास्क अवश्य ही उनका उल्लेख नैघण्डुक अथवा नैगम अध्यायों में करते। इनको वैदिक दैवतशास्त्र का प्रवीण आचार्य माना जाना अधिक सटीक है।

६. कौत्स

आचार्य यास्क ने अपने घनघोर विरोधी कौत्स आचार्य एवं इनके निरुक्त विरोधी सिद्धान्त को भी निरुक्त में सादर उद्धृत किया है। यह यास्क की महानता है। आचार्य कौत्स ने आचार्य यास्क की चुनौती यह कहकर दी है कि **'यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः'**[३५] अर्थात् यदि मन्त्रों के अर्थ का बोध कराने के लिए ही निरुक्त बनाया जा रहा है तो यह व्यर्थ है, क्योंकि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता है। इस अपने मत की पुष्टि के लिए कौत्स ने पांच समालोचनात्मक हेतु दिये हैं। यद्यपि आचार्य यास्क ने बिन्दुशः उन सभी हेतुओं को प्रभावशाली रूप से ध्वस्त कर दिया है। वस्तुतः आचार्य कौत्स भारतीय मनीषा एवं वैदिक चिन्तन के मानों पूर्वपक्ष के प्रबल प्रवक्ता के रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य यास्क द्वारा प्रस्तुत कौत्स के प्रश्नात्मक तर्कों की जैमिनि मुनि ने भी पूर्व मीमांसा दर्शन में पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया। आपस्तम्ब धर्मसूत्रकार ने भी आपस्तम्ब धर्मसूत्र[३६] में आचार्य हारीत के साथ कौत्स का उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि आचार्य कौत्स का व्यक्तित्व दुर्धर्ष, वैदुष्यपूर्ण एवं वेदविरोधी का रहा है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि आचार्य कौत्स निरुक्तकार न होकर निरुक्त एवं वेदविरोधी आचार्य रहे होंगे।

---

[३५] निरु. १/१५

[३६] आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/२८/१

७. क्रौष्टुकि

आचार्य यास्क ने इनका एकमात्र उल्लेख निरुक्तशास्त्र के आठवें अध्याय में **द्रविणोदाः** पद के सन्दर्भ में किया है **'तत्को द्रविणोदाः। इन्द्र इति क्रौष्टुकिः स धनवलयोर्दातृतमः। तस्य च सर्वा बलकृतिः'**[३७] वहाँ इन्होंने द्रविणोदाः को इन्द्र का पर्यायवाची बताते हुए अर्थ निर्वचन प्रस्तुत किया है। इन्द्र को द्रविणस् - धन एवं बल का **दाः (दातृतमः)** अतिशय दाता बताया है। इस निर्वचन से इन्द्र का व्यक्तित्व परिलक्षित होता है। इस तरह क्रौष्टुकि के इस एकमात्र निर्वचन से यह प्रतीत होता है कि जहाँ निरुक्तकार होने का सङ्केत मिलता है, वहीं दैवतविद्या में भी उनकी प्रवीणता स्थापित होती है। **'सोमप्रधानमेतां तु क्रौष्टुकिर्मन्यते स्तुतिम्'** इस पंक्ति में बृहद्देवताकार ने भी इनको स्मरण किया है।

८. गार्ग्य -

निरुक्तशास्त्र में महर्षि यास्क ने आचार्य गार्ग्य का तीन स्थलों पर सादर उल्लेख कर उनके सिद्धान्त से परिचित कराया है -

१. उच्चावचाः पदार्थाः भवन्तीति गार्ग्यः। तद् स एषु पदार्थः प्राहुरिमे तम्। नामाख्यातयोरर्थ-विकरणम्।[३८] **२. न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।**[३९] **३. यदतत्तत्सदृशं इति गार्ग्यः।**[४०]

इस तरह निरुक्त के उक्त तीनों सन्दर्भों में भाषाविज्ञानगत और तृतीय सन्दर्भ (निरु. ३/१४) में अलङ्कारगत सिद्धान्त प्रतिस्थापित किये हैं। आचार्य यास्क ने उपसर्गों के सन्दर्भ में अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा कि उपसर्ग अर्थ की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। नाम-आख्यातों से पृथक् होने पर भी अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के ये स्वयं प्रतिपादक बताये हैं। इस प्रकार निरुक्तकार गार्ग्य के मत में उपसर्ग द्योतक नहीं अपितु वाचक है, जबकि शाकटायन उपसर्गों को अर्थ के वाचक न मानकर द्योतक मानते हैं। आचार्य गार्ग्य का सिद्धान्त आचार्य यास्क को गहराई तक प्रभावित करता है। अतः यास्क ने भी गार्ग्य के सिद्धान्त के साथ सहमति प्रकट की है। इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपक्षी आचार्य शाकटायन हैं, जो **'तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च'** कहकर व्यक्त करते हैं। ये तथा अधिकांश नैरुक्त नाम-आख्यात पदों को यौगिक मानते हैं जबकि नैरुक्तों में गार्ग्य एवं कुछ वैयाकरण नाम-आख्यात पदों की धातुजता के सिद्धान्त के प्रति कात्स्न्र्य रूप से सहमत नहीं हैं।

आचार्य गार्ग्य का तृतीय सिद्धान्त - उपमा का लक्षण प्रस्तुत करता रहा है। उपमा प्रकरण में कहा कि **'यद् अतत् तत्सदृशं इति गार्ग्यः'** अर्थात् जो **अतत्** - उपमा से भिन्न होने पर, **तत्सदृशं** उपमान के

---

[३७] निरु. ८/२
[३८] निरु. १/३
[३९] निरु. १/१२
[४०] निरु. ३/१४

समान हो वही इन उपमाओं का विषय या लक्षण होता है। उपमा सम्बन्धी इस प्रकरण की अवतारणा करते हुए उन्होंने सर्वप्रथम उपमा का लक्षण किया है - **'यदतत् तत्सदृशं तदाश्यं कर्म इति गार्ग्यः'** गार्ग्यकृत उक्त लक्षण आचार्य यास्क ने यहाँ प्रस्तुत किया है। अभिप्राय है कि जो **'अतत्'** - उपमा से भिन्न होकर **'तत्सदृशं - उपमान'** के समान हो **'तदासां कर्म'** - वह इन उपमाओं का विषय होता है अर्थात् उपमान से भिन्न होने पर भी 'जो उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य है, उसको उपमा कहते हैं' यह उपमा का लक्षण है। काव्यप्रकाश में **'साधर्म्यमुपमा भेदे'** यह उपमा का लक्षण किया गया है। इसका भी यही आशय है। उपमान-उपमेय का भेद होने पर भी उपमा होती है। उन दोनों का अभेद होने पर तो **'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव'** इत्यादि में उपमा वाचक **'इव'** का प्रयोग होने पर भी उपमा नहीं **'अनन्वय अलङ्कार'** माना जाता है। इसलिए निरुक्तकार तथा गार्ग्य दोनों ने **'उपमान-उपमेय'** के भेद का प्रतिपादन करने के लिए ही यहाँ **'यत् अतत्'** जो उपमान से भिन्न होकर भी **'तत्सदृशम्'** उपमान के सदृश है, कहा है। इस तरह यास्क द्वारा इनका लक्षण प्रस्तुत करने से सिद्ध होता है कि इन्होंने ऋग्संहिता के अलङ्कारों पर अवश्य ही कोई मानक या लक्षण ग्रन्थ लिखा होगा अथवा अलङ्कार विद्या के ये मूर्धन्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होंगे।

९. गालव

आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में **'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः'**[४१] इस मन्त्र के **'शिताम'** पद की व्याख्या सन्दर्भ में आचार्य शाकपूणि, आचार्य तैटीकि और आचार्य गालव के मतों का उल्लेख किया है। आचार्य गालव ने **'शितिमांसतो भेदस्य इति गालवः'**[४२] ऐसा अपना मत प्रकट किया है, जिसमें शिताम पद शिति मांस से निर्वचनित किया है। **शिति-मांसतः** अर्थात् मेद (चर्बी) से बना है, यहाँ उन्होंने शिति शब्द को **'√शो तूनकरणे'** धातु से मूलतः संकेतित किया है, जो उणादि सूत्र से **'इत्'**[४३] प्रत्यय करके निष्पन्न है। वस्तुतः आचार्य यास्क ने आचार्य गालव का उल्लेख शितामतः पद का अर्थ-सम्बन्धी मतभेद रखने वाले आचार्यों में श्रद्धा से स्मरण किया है। वही आचार्य यास्क ने **'शिति श्यतेर्मांसम्'** कहकर इसको स्पष्ट भी कर दिया है तथा प्रसङ्गतः एक तथ्य और स्पष्ट करना आवश्यक है कि मांस शब्द की आचार्य यास्क ने अद्भुत निरुक्ति देकर मांसाहार से बचाने के लिए उल्लेखनीय चेतावनी दी है - **'मांसं माननं वा मानसं वा मनोस्मिन्त्सीदतीति वा'**[४४] अभिप्राय है कि मांस **मा-अननं > मांसम्** जीवन को

---

[४१] यजुर्वेद २१/४३

[४२] निरु. ४/३

[४३] उणादिकोष ४/१२३ क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च।

[४४] निरु. ४/३

कम करने वाला होता है अथवा **मानसं >** मानसिक पापों को पैदा करने वाला होने से अथवा जिसमें मन लगता है, इसलिए वह मांस कहलाता है।

१०. **चर्मशिरा -** निरुक्त में आचार्य यास्क ने -

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्म न योषा कृणुते सधस्थ आ॥[४५]

इस मन्त्र की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में मात्र **'विधवा'** पद पर आचार्य चर्मशिरा तथा उनके द्वारा कृत निर्वचन उल्लेख किया है - **'विधवनाद्वा विधावनाद्वेति चर्मशिराः'**[४६] यहाँ आचार्य चर्मशिरा ने विधवा की दो निरुक्तियाँ प्रस्तुत हैं - **१. वि-धवनाद् (√धूञ्-कम्पने)** - विशेष रूप से कम्पित होने के कारण से **२. वि-धावनाद् - (√धावु-गतिशुद्ध)** विशेष रूप से अनियन्त्रित होने के फलस्वरूप इधर-उधर भागने या पतिकुल या पितृकुल में दौड़ने या भरणपै इधर-उधर जाने के कारण से। यह चर्मशिरा का विधवा स्त्री पर अपना मत है। वैसे आचार्य यास्क ने भी वहीं विधवा अपना मत निरुक्ति के माध्यम से द्योतित किया है कि **'धव इति मनुष्य नाम। तद्वियोगाद्विधवा'**। तथा **'विधावा विधवा भवति'**। अर्थात् पति से विहीन या वियुक्त हो जाने वाली स्त्री के लिए उन्होंने विधवा कहा है। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा पद पर विभिन्न भाषाओं के साथ मूल में **वि-धव (धाव) > ध** Vi-dhe को बताया है, इसी का विकसित रूप लैटिन विदुआ Vidua, अवेस्ता में विथवा Vithava जर्मनी में - विथ्वे - Withwe, ग्रीक के विथि > vithve और अंग्रेजी में **विधवा > विदवा** > widow बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य चर्मशिरा और आचार्य यास्क तक के विधवा की स्थिति समाज में उतनी सम्मानजनक और सहानुभूतिपूर्ण नहीं रही होगी। उक्त विवेचन में चर्मशिरा आचार्य सम्बन्ध में विदित होता है कि वे अवश्य ही निर्वचन विद्या के प्रगल्भ आचार्य रहे होंगे अथवा प्रतिष्ठापित निरुक्तकार

११. **तैटीकि -** आचार्य यास्क ने नैरुक्त आचार्य तैटीकि का उल्लेख दो स्थलों पर किया है -

१. श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः - निरु ४/३
२. बीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवाह - निरु ५/२७

शितामतः पद की व्याख्या सन्दर्भ में तैटीकि ने **श्याम** से **शिताम** को माना है। इसके मूल में गत्यर्थक **√श्यै** सङ्केतित है और उन्होंने शिताम को **'यकृत्'** संज्ञक प्रतिपादक किया है। संयोग का विषय यह है कि **शिताम** की शान ने **'योनि'**, गालव ने **मेद** (चर्बी) और तैटीकि ने **यकृत्** कहा है, ये सभी मांसपरक व्याख्याएँ हैं। दूसरे स्थल पर तैटीकि ने बीरिट को अन्तरिक्ष कहा है, इस पद पर यदि भाषावैज्ञानिक दृष्टि

---

[४५] ऋग्. १०/४०/२
[४६] निरु. ३/१४

से विचार किया जाए तो - **बीरिटं > वि- √ईर** प्रत्यय > **वीरित**, उक्त निर्वचन में तैटीकि ने व और ब, त को टकार > **'बीरिट'** अभीष्ट मानकर इसकी निरुक्ति की है पद की निरुक्ति से तैटीकि के इस साहस की प्रशंसा करनी पड़ेगी कि उन्होंने मूर्धन्यीकरण एवं प्राकृतभाव से निकलकर बीरिट के मूल को खोज निकाला है। इस तरह यहाँ उन्होंने उक्त निरुक्ति के अतिपरोक्षपरकता से च प्रत्यक्षपरकता पर विश्राम किया है। यही कारण है कि आचार्य यास्क ने इनके इस वर्ण परिवर्तनात्मक प्रक्रिया को उद्धृत किया है। इससे आचार्य तैटीकि यास्क से पर्याप्त प्राच्य द्योतित होते हैं। बीरिट पद पर ऋग्संहिता ७/३९/२ में इसी एक ऋचा में आया है। इस पद पर आचार्य वेंकट, सायण, दयानन्द एवं पं. सातवलेकर तक सभी ने तैटीकि यथावत् स्वीकार करके अन्तरिक्ष अर्थ ही किया है, इसको आचार्य तैटीकि के वेद व्याख्याकार एवं निरुक्तकार के एक झलक मानना सर्वथा उपयुक्त होना चाहिए। तैटीकि से पश्चाद्वर्ती एवं निरुक्तकारों में शिखरपुरुष यास्क भी अन्तरिक्ष अर्थ कहते हुए इसे **'भियो वा भासो वा'**[४७] में भय एवं प्रकाश से परिपूरित परिवेश को अभिव्यक्त करते हैं।

१२. वार्ष्यायणि

आचार्य यास्क ने निरुक्त के प्रारम्भ में आचार्य वार्ष्यायणि का मात्र एक बार ही नामोल्लेख किया है, लेकिन इनको अत्यन्त प्रसिद्धि मिली इनके एक **'षड्भावविकार'** नामक सिद्धान्त के फलस्वरूप यह तो आचार्य यास्क की अति महानता है कि उन्होंने इनके वैज्ञानिक सिद्धान्त से संसार को परिचित करा दिया है। **'षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणयते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति'**[४८] इसको और अधिक वहीं स्पष्ट किया गया है। ऐसा विदित होता है कि आचार्य यास्क के काल से पर्याप्त पूर्ववर्ती आचार्य वार्ष्यायणि का यह सिद्धानत यास्क के समय तक व्यापक प्रचरित था तथा यह भी मानने को बाध्य होना पड़ेगा कि आचार्य वार्ष्यापयणि सूक्ष्म भाषाविज्ञान के तत्त्वों से सुपरिचित रहे हैं, वहीं इनके सिद्धान्त का मन्थन करने पर इनकी गम्भीर दार्शनिकता के भी भलीभांति दर्शन होते हैं। महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने इन्हें विशेष आदर देते हुए **'षड्भावविकाराः इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः'**[४९] इस प्रकार उन्हें भगवान् वार्ष्यायणि के नाम से विशेषतः स्मरण किया है। इस श्रद्धास्पद उल्लेख से भी विदित होता है कि निश्चय ही ये व्याकरण एवं दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य रहे होंगे।

१३. शतवलाक्षा मौद्गल्यः - आचार्य यास्क ने अपने निरुक्तशास्त्र ११/६ में मृत्यु पद के निर्वचन सन्दर्भ में मुद्गल गोत्रोत्पन्न आचार्य शतवलाक्ष को इसलिए सादर स्मरण किया है कि इस पद का

---

[४७] निरु. ५/२८

[४८] निरु. १/२

[४९] अष्टाध्यायी १/३/१

निरुक्तिगत विचार स्वयं शतवलाक्ष का ही है। **'मृतं च्यावयततीति शतवलाक्षो मौद्गलः'**[५०] यहाँ पर आचार्य शतवलाक्ष के मत में मृत को अपसारित अथवा स्थानान्तरित करने के कारण मृत्यु कहा है। इस पद की निरुक्ति में **मृत-च्यावयति > √च्यावय > च्यु > मृत्-च्यु > मृत्यु** को शतवलाक्ष ने उचित मानकर यास्क से पर्याप्त काल पूर्व निरुक्ति की थी जो महर्षि यास्क के काल में भी प्रचलित रही, जिसका स्वयं यास्क ने उन्हीं की निरुक्ति को उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस निरुक्ति को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली होगी, चूंकि बृहद्देवताकार ने **'यत्तु प्रच्यावयन्नेति घोषेण महता मतृम्। तेन मृत्युमिमं सन्तं स्तौति मृत्युरिति स्वयम्'**[५१] इस स्थल पर मृत्यु नामक ऋषि के निर्वचन को अभिव्यक्त कर शतवलाक्ष के मत की पुष्टि व समृद्धि की है। ऐसा नहीं है कि शतवलाक्ष के मत का अनुयायी मात्र बृहद्देवताकार ही है, अपितु गोपथ ब्राह्मणकार भी इस मत के पोषक एवं वाहक हैं। **'समुद्रादमुच्यत स मृत्युरभवत्तं वा एतं मृच्युः सन्तं मृत्युरभवत्'**[५२] यहाँ भी **मृत-च्यु > मृत्-च्यु> मृत्यु** पद स्पष्ट प्रदर्शित है। ज्ञात होता है कि यास्क पूर्ववर्ती शतवलाक्ष भी अपने समय के प्रसिद्ध नैरुक्त एवं भाषावैज्ञानिक अवश्य ही रहे होंगे।

१४. शाकटायनः

आचार्य यास्क ने महर्षि शाकटायन के मत को निरुक्तशास्त्र में तीन स्थलों पर सादर प्रस्तुत किया है -

१. **'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।'**[५३]

२. **'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च।'**[५४]

३. **'अथानन्वितेऽर्थेप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।'**[५५]

आचार्य यास्क ने यद्यपि निरुक्तशास्त्र में उद्धृत कर उनकी नैरुक्तों में भी गणना की है, जबकि शाकटायन को उनके समय से ही अद्यावधि उन्हें वैयाकरणमूर्धन्य माना जाता है। स्वयं महर्षि पाणिनि अपने अमरग्रन्थ अष्टाध्यायी में शाकटायन को तीन स्थलों पर स्मरण करते हैं - १. **'लङ्**

---

[५०] निरु. ११/६
[५१] बृहद्देवता - २/६०
[५२] गो.ब्रा. १/१/७
[५३] निरु. १/३
[५४] निरु. १/१२
[५५] निरु. १/१३

शाकटायनस्यैव'[५६] २. **व्योर्लघुप्रयत्नरः शाकटायनस्य**[५७] तथा ३. **त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य**[५८] इन सूत्रों के माध्यम से आचार्य पाणिनि ने व्याकरणपुङ्गव आचार्य शाकटायन के मत को साभार उद्धृत किया है। महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट रूप से शाकटायन का व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध प्रवक्ता के रूप में दो स्थलों पर उल्लेख किया है - **'व्याकरणे च शकटस्य तोकम्**'[५९] तथा **'वैयाकरणानां शाकटायनः**'[६०] इसके अतिरिक्त वाजसनेय प्रातिशाख्य, ऋक्प्रातिशाख्य एवं बृहद्देवतादि ग्रन्थों में भी आचार्य शाकटायन का उल्लेख मिलता है। इनके परिचय, श्रेष्ठत्व का कृतित्त्व सम्बन्धी विस्तृत जानकारी पं. युधिष्ठिर मीमांसक विरचित 'संस्कृत व्याकरण का इतिहास' प्रथम खण्ड चतुर्थ अध्याय में विस्तार से प्राप्य है, यह निश्चित है कि ये यास्क एवं पाणिनि के पूर्ववर्ती एवं अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य रहे हैं। यास्काचार्य प्रोक्त उनके सिद्धान्तों की समीक्षा के सन्दर्भ में प्रथमतः उनका उपसर्ग सम्बन्धी सिद्धान्त विद्वानों में अत्यन्त चर्चित विषय है। यास्क के उपसर्गों के सम्बन्ध में शाकटायन सिद्धान्त की स्थापना में **'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति**'[६१] ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। यहाँ शाकटायन का कहना है कि उपसर्ग नाम और आख्यात पदों के अर्थों के द्योतक होते हैं, इनसे पृथक् रहकर उपसर्गों का कोई अर्थ नहीं होता अर्थात् ये नाम और आख्यात पदों के पूर्व प्रयुक्त होकर उनके अर्थवैशिष्ट को द्योतित करते हैं। शाकटायन का मानना है कि नामाख्यात से **निर्बद्धा** - पृथक् किये उपसर्गों का भी अपना कोई अर्थ नहीं रहता, अर्थात् यह निश्चय ही कहना अनुपयुक्त होगा कि अमुक उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अपना निजी अमुक अर्थ रखता है। लेकिन उनके ही सद्यः परवर्तीकालिक आचार्य गार्ग्य को आचार्य शाकटायन द्वारा उपसर्गों की द्योतकता का मत कथमपि स्वीकार्य नहीं रहा है, वे इन्हें वाचक मानकर उपसर्गों के सार्थकत्व को संस्थापित करते हैं। **'उच्चावचाः पदार्थाः भवन्तीति गार्ग्यः**' अर्थात् उपसर्गों के विभिन्न अर्थ होते हैं और भी आगे लिखते हैं कि **'तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्**'[६२] अर्थात् उनका चाहे कोई भी अर्थ हो, वे उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, जो नाम और आख्यात के अर्थ में विकार परिवर्तन को ले जाते हैं। आचार्य यास्क ने शाकटायन और गार्ग्य दोनों के मत को अपने निरुक्तशास्त्र में स्थान देकर मानव जाति का परमोपकार किया है, लेकिन वे भी शाकटायन के मत को स्वीकार नहीं करते, बल्कि आचार्य गार्ग्य के

---

[५६] अष्टा. ३/४/१११
[५७] अष्टा. ८/३/१८
[५८] अष्टा. ८/४/५०
[५९] महाभाष्य - ३/३/१
[६०] महाभाष्य - ३/२/१५
[६१] निरु. १/३
[६२] निरु. १/३

मत उपसर्गों की वाचकता को सर्वात्मना स्वीकार करके न केवल उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है, अपितु उपसर्ग के न्यूनतम एक-एक अर्थ की मीमांसा भी करते हैं, जो विस्तार से निरुक्त में द्रष्टव्य है। सत्य तो यह है कि यदि उपसर्गों में कोई अर्थ न होता तो उनके पदत्व का भी अभाव होता। निश्चय ही उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग और अर्थ सम्भव है। वेदों में उपसर्ग नाम और आख्यात पदों से पृथक् पद के रूप में प्रयोग हुआ है, वहाँ पर्याप्त जीवन्त उदाहरण है। महर्षि पाणिनि इसका **'छन्दसि परेऽपि'** तथा **'व्यवहिताश्च'** द्वारा निर्देश करते हैं। वस्तुतः उपसर्ग स्वयं सार्थक हैं। परवर्ती सभी वैयाकरणों का मानना है कि उपसर्ग धातुओं के अर्थों को बदल देते हैं।

'तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनोः नैरुक्तसमयश्च'[६३] यह शाकटायन का सिद्धान्त वैयाकरणनिकाय और नैरुक्त निकाय में अत्यन्त प्रसिद्ध ही नहीं, अपितु शिरोधार्य रहा है, मात्र गार्ग्य तथा कुछ बेनामी ऐसे आचार्य हैं, जो इसको कृत्स्नरूप से नहीं मानते, निरुक्तकार यास्क ने वहीं इनके मतवैभिन्य को **'न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके'** इन शब्दों से प्रदर्शित कर दिया है। यास्क ने तत्कालीन आचार्यों एवं शास्त्रों की स्थिति को स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक वाङ्मय, व्याकरण एवं निरुक्त के क्षेत्र में आचार्य शाकटायन सम्पूर्ण नामशब्दों को धातुज अर्थात् आख्यातज धातु से उत्पन्न मानते हैं। आचार्य यास्क ने निरुक्त १/१४ में शाकटायनोक्त सिद्धान्त के प्रति असहमति रखने वाले नैरुक्तों एवं वैयाकरणों की आलोचना को पूर्वपक्ष में रखकर उसका युक्तियुक्त उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य यास्क स्वयं आख्यातज सिद्धान्त के कट्टर अनुयायी थे। महर्षि पतञ्जलि भी शाकटायनप्रोक्त आख्यातज सिद्धान्त के यास्क की तरह अनुयायी हैं, उन्होंने महाभाष्य में लिखा है **'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्-वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति'**[६४] इस प्रकार यास्क एवं पतञ्जलि दोनों ही शाकटायन के आख्यातज सिद्धान्त के प्रशंसक ही नहीं विस्तारक भी रहे हैं। शाकटायन के इस प्रबल सिद्धान्त के अध्ययन से एक बात अवश्य उभर कर आती है कि सम्पूर्ण नामपदों को धातुज मानने वाले वैयाकरण पुङ्गव शाकटायन का धातु विषयक अत्यन्त व्यापक चिन्तन रहा होगा तथा कहा जा सकता है कि उन्होंने किसी धातुपाठ का प्रवचन अवश्य किया होगा, अन्यथा वे इस सिद्धान्त को इतनी दृढता से प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो पाते, जिसका लोहा यास्क, पतञ्जलि जैसे ऋषियों ने सादर स्वीकार किया। इस सम्बन्ध में पं. युधिष्ठिर मीमांसक **'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास'** प्रथम खण्ड में तो यहाँ तक लिखते हैं कि **'शाकटायन ने जिस धातुपाठ का प्रवचन किया है, वह पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत रहा होगा।'** इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रन्थों

---

[६३] निरु. १/१२

[६४] महाभाष्य ३/३/१

की रचना की थी, जिसका विवरण मीमांसक जी ने विस्तार से वहीं दिया है, जो विशेष जानकारी हेतु अवश्य द्रष्टव्य है।

महर्षि यास्क ने निरुक्त में शाकटायन आचार्य द्वारा 'सत्य' पद के निर्वचन पर प्रतिपक्ष द्वारा आलोचना का प्रसङ्ग उद्धृत किया है।[६५] यहाँ आचार्य शाकटायन ने सत्य पद को दो धातुओं **√इण-गतौ** और **√अस्-भुवि** से निरुक्ति की है। प्रतिपक्ष का कहना था कि सत्य का अर्ध भाग > **य √इण-गतौ** धातु से और प्रथम अर्थ भाग > **सत् - √अस्-भुवि** धातु से निर्वचनित किया है, जो खींचतान है। वैसे ऐसी निर्वचन प्रक्रिया शाकपूणि आदि नैरुक्त आचार्यों ने भी अपनाई है यथा अग्नि पद को तीन धातुओं से निर्वचनित किया है **'अग्निः - त्रिभ्यः आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। इतात् अक्तात् दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीपरः'**[६६] तथा अन्य शास्त्रों में भी ऐसे पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। यास्क का कहना है कि इस प्रकार शब्दों के मूल खोजना त्रुटिपूर्ण नहीं है। यदि खोजी गई धातुओं के अस्तित्व का पद में सर्वथा अभाव है तो निश्चय ही दोष होगा **'सैषा पुरुषगर्हा, न शास्त्रगर्हा'**[६७] अर्थात् यह पुरुष की निन्दा है शास्त्र की गर्हा नहीं है। इस प्रकार महर्षि यास्क ने शाकटायन कृत सत्य निर्वचन को निर्वचनशास्त्र सम्मत घोषित कर प्रतिपक्ष पर जमकर बरसे हैं। इस तरह आचार्य शाकटायन को नैरुक्त की अपेक्षा वैयाकरण के रूप में अधिक मान्यता प्राप्त है।

१५. शाकपूणिः

महर्षि यास्क ने अपने निरुक्तशास्त्र में अपने से पूर्ववर्ती आचार्य शाकपूणिः का उनके सिद्धान्तों, प्रक्रिया सहित सर्वाधिक चौबीस स्थलों पर सादर स्मरण किया है। जिसमें नौ स्थलों पर विभिन्न पदों के निर्वचन सम्बन्धित, ग्यारह स्थलों पर दैवत विषयक, तीन स्थलों पर विभिन्न तीन वेद मन्त्र व्याख्यागत और एक स्थल पर पद परिचय परक विषय पर आचार्य यास्क ने शाकपूणि के सिद्धान्त, प्रक्रिया एवं विचारधारा पर प्रकाश डालकर उनकी भाषाविज्ञानगत एवं दैवतशास्त्रीय गहराई से परिचय कराकर मानव जाति पर महदुपकार किया है। निरुक्तशास्त्र में उनके सन्दर्भ इस प्रकार हैं -

निर्वचन सम्बन्धी - १. तळित् विद्युत् - 'विद्युत्तळिद्भवतीति शाकपूणिः। सा ह्यवताळयति'[६८] यहाँ आचार्य शाकपूणि ने तळित् का अर्थ विद्युत् करते हुए तड ताड् - आघाते धातु से निरुक्ति की है, इस निरुक्ति का ध्वन्यात्मक आधार सशक्त है और शब्द निर्वचन के अन्तर्गत यह धातुज वह प्रत्यक्षवृत्तिपरक निरुक्ति माना जायेगा।

---

[६५] निरुक्त १/१३
[६६] निरु. ७/१४
[६७] निरु. १/१४
[६८] निरु. ३/११

२. महान् - 'मानेनान्यांजहातीति शाकपूणिः'[६९] आचार्य शाकपूणि के नाम से निरुक्त में उद्धृत इस निरुक्ति को **म > मानेन - √हा-त्यागे** धातु से प्रदर्शित किया गया है अर्थात् मान सम्मानादि का त्याग करने वाला ही महान् होता है, ऐसा आचार्य शाकपूणि का मत है। यहाँ आचार्य शाकपूणि का यह निर्वचन अर्थात्मक आधार में उदात्तता रखता ही है पूर्व वर्ण **म** में **√माङ्** - माने धातु का **मा > म** अर्थात् ध्वनि का ह्रस्वीकरण हो गया है। इस तरह वर्णह्रस्वत्व सिद्धान्त अथवा संक्षेपीकरण का संकेत है।

३. ऋत्विक् - 'ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः'[७०] अर्थात् ऋचाओं से यज्ञ करने वाला है, यहाँ आचार्य शाकपूणि ने **ऋग् - √यज - देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु** धातु से ऋत्विज् पद की निरुक्ति की है। इसके अनुसार ऋत्विज पद में वर्णविकार के रूप में **ऋत्विज् > ऋग् > ऋत्** गकार का तकार तथा यज् धातु के पूर्व वर्ण य को व ध्वनि में परिवर्तन मिलता है। इस प्रकार यहाँ वर्ण विकार की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

४. शिताम् - योनिः शितामेति शाकपूणिः। विषितो भवति'[७१] यहाँ आचार्य शाकपूणि ने शिताम का अर्थ योनि किया है, क्योंकि वह विषितः खुली हुई होती है। यद्यपि यहाँ आचार्य यास्क ने अपनी कोई निरुक्ति नहीं की है, परन्तु उक्त पद पर उन्होंने शाकपूणि, तैटीकि और गालव आचार्यों की निरुक्तियाँ एवं विचारधारा को प्रस्तुत किया है, ये इसका पृथक्-पृथक् अर्थ एवं निर्वचन करते हैं। आचार्य शाकपूणि ने **शिताम** पद को **विषित** शब्द से मानने में **वि- √षिञ् - बन्धने** धातु से निष्पन्न किया है। यहाँ वर्णलोप एवं आगम के फलस्वरूप अतिपरोक्षवृत्ति परक निरुक्ति मानना सर्वथा उपयुक्त है।

५. अक्षाः - 'सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणिः'[७२] आचार्य यास्क ने यहाँ आचार्य शाकपूणि की निरुक्ति को क्षि-निवासे धातु से संकेतित किया बताया है। उनका विश्वासपूर्वक कहना है कि सभी निर्वचन इसी धातु से विहित हैं। जबकि अन्य आचार्य **√अशूङ्-व्याप्तौ** तथा **√क्षर-सञ्चलने** से भी निर्वचन करते हैं। ये निर्वचन अर्थात्मक सङ्गति के लिए तो सौकर्यभाव रखते हैं, परन्तु ध्वन्यात्मक दृष्टि से आचार्य शाकपूणि का निर्वचन उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ ऋग्. ९/१०७/९ और ऋग् १०/८६/६ के सन्दर्भ में अक्ष पद की निरुक्ति को कुछ आचार्यों ने अशूङ्-व्याप्तौ और क्षर - सञ्चलने धातु से इसलिए प्रस्तुत किया, क्योंकि सोम तत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से व्याप्त तत्त्व है जबकि भौतिक दृष्टि से सोम द्रव्य तत्त्व में मानने पर सञ्चरण करने वाला है, परन्तु आचार्य शाकपूणि इन सभी कतिपय अज्ञात नाम आचार्यों से मतवैभिन्य रखते हुए अक्षा को **√क्षि-निवासगत्योः** धातु से ही निर्देश करते हैं। परन्तु प्रसिद्ध

---

[६९] निरु. ३/१३
[७०] निरु. ३/१९
[७१] निरु. ४/३
[७२] निरु. ५/३

भाषाशास्त्री डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा ने शाकपूणि के मत की पुष्टि में प्रमाणाभाव मानकर उतना महत्त्व नहीं देते, जितना कतिपय आचार्यों द्वारा **√अशूङ्** और **√क्षर** धातु से निरुक्ति प्रस्तुत की है।

६. **अप्सराः - स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः**'[७३] यहाँ आचार्य यास्क ने **अप्सराः** पद की निरुक्ति **अप् (जल) पूर्वक √सृ-गतौ** धातु और **अ (नञ्) - √प्सा-भक्षणे** धातु से व्युत्पन्न की है, वहीं आचार्य शाकपूणि का मत भी उद्धृत किया है कि अप्सरा नाम विद्युत् और जलपरी का है, सो ये दर्शनीय होती हैं, अतः शाकपूणि का कहना है कि यह स्पष्ट दर्शन के लिए होती है।

७. **अच्छ - 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः**'[७४] यास्क का कहना है कि आचार्य शाकपूणि के मत में अच्छ उपसर्ग **'अभि'** के अर्थ में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ होता है - प्राप्त करना। मान्य एवं प्रचलित उपसर्गों की संख्या लगभग सीमित है और ये २० बताये गये हैं, लेकिन आचार्य यास्क ने शाकपूणि द्वारा उपसर्ग पदों में व्यवहार्य **अच्छ** उपसर्ग को **√आप्लृ-व्याप्तौ** धातु से व्युत्पन्न माना है और उनके मत में इसी धातु से उपसर्ग भी निष्पन्न मानना अभीष्ट है अतः यह निश्चय ही धातुज है और निश्चय ही शाकपूणि भाषागत प्राकृत प्रभाव से भली-भांति परिचित थे। स्वयं आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में ऋग्वेद के मन्त्र **'प्र सिन्धुमच्छत बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः**'[७५] के भाष्य में अच्छा पद का **'प्राभिह्वयाभि सिन्धुं**'[७६] अर्थात् अभि अर्थ किया है तथा बृहद्देवताकार द्वारा **'अच्छ श्रदन्तरित्येतानाचार्यः शाकटायनः। उपसर्गान् क्रियायोगान्मेने ते तु त्रयोऽधिकाः**'[७७] इस उद्धरण में स्पष्टतः **'अच्छ'** पद को उपसर्ग माना है, जो आचार्य शाकपूणि के मत की पुष्टार्थ पर्याप्त है।

८. **अग्निः - 'त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद्दग्धाद्वा। नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहंतेर्वा नीपरः।**'[७८] यहाँ आचार्य यास्क ने महर्षि शाकपूणि का अग्नि पद पर निर्वचन देकर निरुक्त और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी निर्वचन सिद्धान्त को विस्तृत आयाम प्रदान किया है। शाकपूणि ने एक ही पद को धातुत्रय से निर्वचनित कर निर्वचन के क्षेत्र को सुतराम् समृद्ध किया है। उन्होंने **इतात् > √इण-गतौ > अयन > (अ), अक्तात् > √अञ्जु व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु > क् > ग् अथवा दग्धात् > √दह्-भस्मीकरणे > (ग) तथा नीतात् > √णीञ् - प्रापणे > नी (नि) - अ ग् नि > अग्निः**। इस तरह अनेक धातुओं के योग से निष्पन्न निर्वचन ध्वनि एवं भाषाविज्ञान की सूक्ष्मता का परिचायक है और यह कार्य शाकपूणि ने करके भाषावैज्ञानिक एवं पदार्थ-

---

[७३] निरु. ५/१३
[७४] निरु. ५/२८
[७५] ऋग्. ३/३३/५
[७६] निरु. २/१४
[७७] बृ.दे. २/९५
[७८] निरु. ७/१४

विज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया है। वस्तुतः ऐसा उदाहरण संसार की किसी भी भाषा में देखने को नहीं मिलता है। यहाँ धातुज एवं परोक्षवृत्त्याश्रित निर्वचन माना जायेगा।

९. नराशंस - 'अग्निरिति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति'[७९] यहाँ आचार्य शाकपूणि को नराशंसः के निर्वचन सन्दर्भ में यास्क ने साभार प्रस्तुत किया है। इसी स्थल पर यास्क ने आचार्य कात्थक्य को भी उद्धृत किया है। आचार्य शाकपूणि नराशंसः को अग्नि का पदवाच्य मानते हुए **नरैः प्रशस्यः > नृ > नरा** उपपद पूर्वक **√शंसु-स्तुतौ** धातु से निरुक्ति दी है। अभिप्राय यह है कि अग्नितत्त्व मनुष्यों द्वारा प्रशस्य है अथवा मनुष्य उसकी स्तुति करते हैं। यह पद सामाजिक है तथा उत्तर का निर्वचन होने के फलस्वरूप यहाँ एकपदिक धातु तथा प्रत्यक्षवृत्तिपरक निर्वचन सर्वथा स्वीकार्य हैं और ध्वनिगत सामीप्य प्रदर्शित है।

दैवतज्ञान - महर्षि यास्क ने निरुक्त में आचार्य शाकपूणि के दैवतज्ञान की गहन चिन्तना की ओर सङ्केत दिया है। महर्षि शाकपूणि की दैवतज्ञान सम्बन्धी घोषणा को शाकपूणि के शब्दों में ही यास्क ने उद्धृत करते हुए कहा है - **'शाकपूणि सङ्कल्पयाञ्चक्रे। सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ। विविदिषाणि त्वेति। सा एतामृचमादिदेश। एषा मद् देवतेति।'**[८०] इस उद्धरण में जहाँ शाकपूणि के दैवतज्ञान की अगाधता द्योतित होती है, वहीं आचार्य यास्क ने देवता के उभयलिङ्ग परीक्षण में शाकपूणि के सन्देह के प्रति इङ्गित किया गया है। शाकपूणि ने अपने मत की दृढ स्थापना में सङ्कल्प या निश्चय यह था कि वह स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्ग के शब्दों के आधार पर दैवत का निर्णय कर सकते हैं। किन्तु निरुक्त में यास्क द्वारा **'अयं स शिङ्क्ते'**....[८१] यह मन्त्र प्रस्तुत किया है, अतः यहाँ शाकपूति के सामने **'दैवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे।'**[८२] यह उभयलिङ्ग देवता उपस्थित हुआ और शाकपूणि उसको न समझ सके अर्थात् उसका निर्णय नहीं कर सके। एतद्विषयक विवेचना निरुक्त १/१६ और २/८ इन दोनों स्थलों पर देवताप्रकरण में यास्क शाकपूणि के कट्टर आलोचक एवं खण्डनकर्ता दिखाई देते हैं। निरुक्त में आचार्य शाकपूणि का नामोल्लख न करते हुए **'ते चेद् ब्रूयुः लिङ्गज्ञा वयमत्र स्म'**[८३] में **'ते'** इस सर्वनाम पद से शाकपूणि का ही निर्देश किया है और निरुक्त में तो स्पष्टतः **'शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामि'**[८४] से शाकपूणि के मत का उल्लेख किया है और दोनों ही स्थलों पर आचार्य यास्क ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि लिङ्ग के आधार पर देवताज्ञान

---

[७९] निरु. ८/६
[८०] निरुक्त २/८
[८१] ऋग्. १/१६४/२९
[८२] निरुक्त २/८
[८३] निरुक्त १/१६
[८४] निरुक्त २/८

सम्भव नहीं है। लेकिन इतना अवश्य है कि शाकपूणि वैदिक दैवतज्ञान क्षेत्र में गहरी पैंठ रखने वाले आचार्य रहे हैं, उनका परिश्रम प्रभूत प्रशंस्य है।

इसके अतिरिक्त ७/२३, ७/२८, ८/२, ८/६, ८/७, ८/१४, ८/१७ और ८/१८ के प्रसङ्गों से विदित होता है कि ये अग्नि को ही सब देवताओं में प्रधान मानते थे। इस मत के वे इतने कट्टर पक्षधर थे कि वे किसी भी पार्थिव तत्त्व की देवता रूप में स्तुति की गई है, चाहे वह वनस्पति, वृक्ष या धूप हो व 'अग्नि' ही है। **'अग्निर्वै सर्वाः देवताः'**[८५] इस सिद्धान्त के पोषक एवं अनुयायी शाकपूणि के अनुसार अनादिष्टदेवताक मन्त्रों का देवता **'अग्नि'** ही है।

शाकपूणिः के पुत्र - 'आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः। एषगर्भवति यदेमर्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणि भूतानि तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति।'[८६] यहाँ आचार्य यास्क ने शाकपूणि ऋषि के विद्वान् पुत्र को सादर उद्धृत किया है और उसके वैदुष्य को प्रणाम करते हुए उसके स्वतन्त्र चिन्तन को अक्षर पद की व्याख्या सन्दर्भ में रेखाङ्कित किया है। निरुक्त में निर्वचन शैली के पूर्वपक्ष में **'कतमत्तदेतदक्षरम्'**[८७] उठाया है अक्षर कौन सा है? उनके ही पिता का उल्लेख है - **'ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः'** लेकिन शाकपूणि के पुत्र उनसे हटकर व्याख्या करते हैं कि **'आदित्य इति'** वही, अर्थात् अक्षर आदित्य है। यास्क का कथन है कि **'अक्षर'** की शाकपूणि पुत्रोक्त आदित्यपरक व्याकरण आधिदैवत व्याख्या है। जबकि उनके पिता शाकपूणि द्वारा अक्षर पद की व्याख्या मन्त्रादौ उच्चरित ओ३म् परक है। इससे विदित होता है कि शाकपूणि के पुत्र का नाम नैरुक्तों एवं वेद विद्या पारङ्गत विद्वानों में प्रसिद्ध रहा है। अगर आप परम्परावादी होते तो ऐसा स्थान वे कथमपि नहीं बना पाते।

१६. शाकल्य -

आचार्य यास्क ने यद्यपि कहीं भी उन्हें निर्वचन प्रसङ्ग में स्मरण नहीं किया है। वस्तुतः उनकी प्रतिष्ठा एक मूर्धन्य वैयाकरण और ऋग्वेदीय शौनक शाखा के पदपाठ के प्रवक्ता आचार्य के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। निरुक्त ६/२८ में इनके पदपाठ की स्पष्ट आलोचना की है तथा अन्य स्थलों पर यथा निरुक्त ५/११ आदि स्थलों पर सप्रसङ्ग शाकल्य का नाम उद्धृत किये बिना उसमें भिन्न पदपाठ किया है। इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदीय शौनक शाखा के पदपाठ के क्षेत्र में आचार्य शाकल्य प्रामाणिक एवं सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता रहे थे, उनका प्रभाव परवर्ती काल में व्यापक रहा। महर्षि पाणिनी ने आचार्य शाकल्य का मत अष्टाध्यायी में चार बार उद्धृत करके उनको वैयाकरण निकाय में मूर्धन्य आचार्य के रूप में माना

---

[८५] ऐत.ब्रा. १/१
[८६] निरु. १३/११
[८७] निरु. १३/११

है। शौनक और कात्यायन ने भी अपने प्रातिशाख्यों में शाकल्य आचार्य के मत का सादर उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि उनकी व्याकरण और पदपाठ के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका रही थी।

१७. स्थौलाष्ठीविः -

१. अक्रोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्रोपयति न स्नेहयति"[८८] अग्नि पद पर यह निर्वचन आचार्य यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्य स्थौलाष्ठीविः के नामस्मरण पुरस्सर दिया है। यहाँ स्थौलाष्ठीवि अग्नि पद की निरुक्ति को **अ (नञ्) पूर्वक > क्रोपन** आर्द्रत्व उत का स्नेहत्व से करना उचित मानते हैं। यहाँ अग्नि पद की **अ (नञ्)** अर्थात् निषेधवाची - **√क्रूयैङ् (क्रूयी) - शब्दोन्दनयोः > क् > ग् - निः** प्रत्यय के समर्थन से निरुक्ति दी गई है। सम्भवतः ऐसा अग्नि के गुण-कर्म-स्वभाव के फलस्वरूप आचार्य स्थौलाष्ठीवि ने माना है कि अग्नि का धर्म - आर्द्र-गीला करना अथवा स्नेहन करना नहीं है, अपितु अपनी ताप और उष्णता से मिट्टी काष्ठादि को शुष्क एवं रूक्ष करना है। इस तरह उक्त निर्वचन में निर्दिष्ट **√क्रूयैङ्** धातु का संक्षिप्तीकरण होते होते **क्रूयैङ् > क्रूयी > क्रू > क् > ग्** रह गया है जो **अ (नञ्) - ग् - निः** प्रत्यय के योग से **> अग्निः** पद बना। निश्चय से उक्त निर्वचन धातुज एवं अतिपरोक्षवृत्त्याश्रित निर्वचन है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य स्थौलाष्ठीवि निर्वचन क्षेत्र में होने वाले वर्णविकारों एवं ध्वनिपरिवर्तनों से भलीभांति परिचित रहे होंगे।

इस तरह आचार्य यास्क ने जिन-जिन अपने से पूववर्ती आचार्यों सम्प्रदायों एवं नैरुक्तों का साभार उल्लेख अपने निरुक्तशास्त्र में किया है, आचार्य यास्क ने वस्तुतः उन्हें अमरता प्रदान कर दी है, अन्यथा अज्ञात अतीत के होकर रह जाते, वहीं उनके निर्वचन सिद्धान्त, दैवतज्ञान, भाषाविज्ञान इत्यादि दुरूह विषयों पर संक्षिप्त अथवा विस्तार से प्रकाश डालकर विशाल ज्ञान भण्डार को प्रस्तुत किया है। यास्क वास्तव में अत्यन्त पूज्य ऋषि हैं जिन्होंने ऋषियों, भाषावैज्ञानिकों, वैयाकरणों, नैरुक्तों, वेदार्थवेत्ताओं तथा अन्यान्य सम्प्रदाय-आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों, विद्या प्रतिमानों से परिचय कराया है। मात्र आचार्य दुर्ग का यह कथन **'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्'** के अनुसार १४ नैरुक्त सम्प्रदाय हैं, लेकिन आचार्य यास्क के निरुक्त के गहन समीक्षा करने से तो कहा जा सकता है कि निर्वचन वेदार्थज्ञान में गहरी पैठ रखने, विविध ज्ञान, ज्ञान-विज्ञान के परिचायक होने के कारण निरुक्त अनगिनत भेदों वाले रहें होंगे।

प्रो. रूप किशोर शास्त्री
सचिव
महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार)

[८८] निरु. ७/१४